

समाजशास्त्र के भारतीय चिंतन में टॉलकाट पारसंस का योगदान

डॉ० विजय कुमार वर्मा
डॉ० शकुन्तला मिश्रा राष्ट्रीय पुनर्वास
विश्वविद्यालय, लखनऊ

प्रस्तुत लेख का मुख्य उद्देश्य समाजशास्त्र के भारतीय चिन्तन के अन्तर्गत पारसंस के समाजशास्त्र, मुख्यतया उनकी सामाजिक व्यवस्था की अवधारणात्मक सार्थकता एवं प्रासंगिकता का विवेचन करना है। इस तथ्य को भी प्रकाश में लाना है कि पारसंस का समाजशास्त्र भारतीय समाजशास्त्र से किन-किन बिन्दुओं पर भिन्नता रखता है तथा इन स्पष्ट व मापनीय भिन्नताओं के फलस्वरूप भारतीय समाजशास्त्र के क्षेत्र में उनका जस का तस प्रयोग कहां तक तर्कोचित है। जहां तक भारतीय समाजशास्त्र के वास्तविक स्वरूप का प्रश्न है तो यह उतना ही पुरातन है जितना भारतीय समाज। हमारी संस्कृति व सभ्यता और साथ ही सामाजिक व धार्मिक धरोहर के रूप में वेद, पुराण, स्मृतियां, रामायण व महाभारत इत्यादि स्वयं ही भारतीय समाजशास्त्रीय विषय-वस्तु को प्रकट करते हैं, लेकिन एक पृथक विद्योचित शास्त्र के रूप में भारतीय समाजशास्त्र का आगमन भारतीय सामाजिक दर्शन व इतिहास के क्षेत्र में एक नूतन परिवर्द्धन है, जिसका उद्भव औपनिवेशिक काल में भारत में पश्चिमी समाजशास्त्र के प्रवेश के साथ माना जा सकता है। कहना न होगा कि औपनिवेशिक परतन्त्रता एवं पश्चिमी संस्कृति के प्रभुत्व से ही भारतीय समाजशास्त्र का जन्म हुआ है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि औपनिवेशिक काल के प्रारम्भ में ब्रिटिश शासकों ने भारत पर अपनी प्रशासनात्मक पकड़ मजबूत करने के लिए भारतीय प्रथाओं, रीतियों व संस्थाओं को समाजशास्त्रीय ढाल बनाकर प्रयोग किया। कहने की आवश्यकता नहीं कि 1769 में बिहार व बंगाल के गवर्नर हेनरी ब्रिलिस्ट के द्वारा बंगाल के मुख्य परिवारों व उनकी प्रथाओं के संकलन के साथ ही ब्रिटिश शासकों व धर्म प्रचारकों ने भारतवासियों के जीवन और उनकी संस्कृति का गहनतम अध्ययन प्रारम्भ कर दिया। उदाहरण के तौर पर 1807 में फ्रांसिस बुकानन के द्वारा नृजातीय सर्वेक्षण, 1816 में मैसूर के फ्रांसीसी धर्म प्रचारक अबे दुवाय की विश्वविख्यात कृति हिन्दू मैनेर्स-कस्टम्स एण्ड सेरीमनीज, जो भारतवासियों के जीवन, प्रथाओं व संस्कारों का दस्तावेज है, वाल्टर हेमिल्टन का गजेटियर, 1871 में ब्रिटिश सरकार के द्वारा अखिल भारतीय जनगणना जो बाद में उनके कार्यालय की स्वार्थवादी नीति का मुख्य अंग बनी, 1901 में हरबर्ट रिजले के द्वारा एथनोग्राफिक सर्वे ऑफ इंडिया का गठन व विभिन्न ब्रिटिश अधिकारियों जैसे विल्सन, वेनीज, ब्लन्ट, थर्स्टन, ओ माले, हट्टन व गुहा इत्यादि के द्वारा किये गये जनांकिकीय अध्ययन व उनमें जाति व धर्मों की तोड़ी व मरोड़ी गई परिभाषायें व स्वार्थवश उनका प्रयोग, ब्रिटिश शासकों के द्वारा प्रयोग में लाये गये भारतीय समाजशास्त्र की महत्ता व उसका अस्तित्व प्रमाणित करते हैं।

पारसंस का समाजशास्त्र एक विश्लेषण

भारतीय समाजशास्त्र के क्षेत्र में धूर्जटी प्रसाद मुखर्जी व उनके समगामियों का नाम जिस आदर से लिया जाता है। अमेरिकी समाजशास्त्रीय साहित्य के सामाजिक सिद्धान्त के क्षेत्र में टॉलकाट पारसंस का नाम भी उतना ही सम्मानजनक है। पारसंस द्वारा लिखित अन्य कृतियों के अतिरिक्त 1951 में लिखी उनकी दो पुस्तकें द सोशल सिस्टम व एडवर्ड शिल्स के साथ लिखी टुवर्डस जनरल थ्योरी ऑफ सोशल एक्शन क्रमशः शसामाजिक व्यवस्था व शसामाजिक क्रिया के क्षेत्र में अपनी अस्मिता को स्वयं ही दर्शाती है। उल्लेखनीय है कि समाजशास्त्रीय सिद्धान्त के जगत में पारसंस का मुख्य

योगदान शसामाजिक क्रिया का सिद्धान्त माना जाता है। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् प्रमुख रूप से पारसंस का यह सिद्धान्त अग्रणी रहा है। इस सिद्धान्त की मुख्य विशेषता यह रही है कि सार्वभौमिक संरचनाओं की विभिन्नता होते हुए भी इस सिद्धान्त को विश्व में किसी न किसी रूप में मान्यता प्रदान होती रही है। यहां विषयक परिधि को सीमाओं में बांधने के लिए यह कहना प्रासंगिक होगा कि पारसंस द्वारा प्रतिपादित सभी सिद्धान्तों का आधार मुख्य रूप से सामाजिक क्रिया रही है। इसी सामाजिक क्रिया की मृगतृष्णा को भारतीय समाज के प्रत्ययों के आनुभविक अध्ययनों में पारसोनियन मॉडल मानकर प्रयुक्त किया जाता रहा है। पारसंस के शब्दों में सामाजिक क्रिया कर्ता-परिस्थिति व व्यवस्था के संबंध में वह प्रक्रिया है जिसकी प्रेरणात्मक महत्ता होती है। अर्थात् किसी परिस्थिति में क्रियात्मक प्रक्रियाएं कर्ता की इच्छाओं की पूर्ति अथवा अवांछनीयताओं के पृथकीकरण से सम्बन्धित तथा उनसे प्रभावित होती है चाहे कर्ता के व्यक्तित्व का स्वरूप वौसा भी क्यों न हो वास्तव में पारसना का समाजशास्त्र सामाजिक क्रिया-व्यवस्थाओं का वैज्ञानिक विश्लेषण व व्याख्या करने वाला विज्ञान है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि समाज की क्रियाशीलता व उसका अस्तित्व वास्तव में सामाजिक क्रिया-व्यवस्था का ही परिणाम है। उस क्रिया और उसके परिणाम का अध्ययन करने वाला विज्ञान ही पारसंस समाजशास्त्र है सार रूप में पारसंस के समाजशास्त्र की अवधारणा सामाजिक क्रिया में निहित है। जिसके लिये कर्ता, परिस्थिति व प्रेरणा का होना अनिवार्य ही नहीं अपरिहार्य भी है। पारसंस का यही मुख्य संदर्भ केवल कुछेक विज्ञान, जो समाजशास्त्र के भारतीय परिप्रेक्ष्य व मिन्नान वो प्रति वचनबद्ध थे, को छोड़कर हमारे पूर्वगामी पारसंस के क्रियारूपी कर्त व उसकी परिस्थिति का प्रतिरूप जस का तस मानकर अन्धानुकरण करते रहे हैं। इन्हीं प्रतिरूपों के अवशेष आज भी किसी न किसी रूप में प्रयोग किये जा रहे हैं। यही कारण है कि अपने सामान्य तथा उपलब्ध सिद्धान्तों में अपनी आनुभविक वास्तविकता के बोध का प्रतिसंभरण करके उनकी सार्वभौमिक प्रयोज्यता की परीक्षा करने में हम सफल नहीं हो पाये और न ही सैद्धान्तिक रूप में परिष्कृत धारणाओं को आगे बढ़ा सके हैं।

पारसंस के समाजशास्त्र की भारतीय परिप्रेक्ष्य में चर्चा करते समय उनके सामाजिक व्यवस्था जजैसे महत्वपूर्ण प्रत्यय का विश्लेषण भी आवश्यक हो जाता है। सार रूप में पारसंस का सामाजिक व्यवस्था का सिद्धान्त क्रिया-व्यवस्था का ही सिद्धान्त है जिसमें एकाधिक वैयक्तिक कर्ताओं की एक विशेष परिस्थिति में किया जिसका कुछ प्रेरणात्मक महत्त्व हो, सामाजिक व्यवस्था के प्रत्यय के निर्माण की पूर्व आवश्यकता है। यथार्थ यह है कि क्रिया वास्तविक परिस्थिति के रंगमंच पर ही घटित होती है। पारसंस के अनुसार, सामाजिक क्रिया करने की प्रेरणा कर्ता को अपने सावयव से ही प्राप्त होती है। अर्थात् यहां पर सावयव ही क्रिया की प्रतिक्रिया को उत्पन्न करने वाला प्रयत्न कारक का अन्तिम स्रोत है। सावयव से प्राप्त प्रयत्न शक्ति उस परिस्थिति में व्यक्ति को क्रिया करने के लिये बाध्य करती है क्योंकि शारीरिक सावयव ही इच्छाओं का मुख्य स्रोत पसन्द नापसन्द का ही समन्वय है। परिणामतः पारसंस की क्रिया-व्यवस्था को व्यक्तित्व, संस्कृति व समाज व्यवस्था के समागम से उत्पन्न परिस्थिति को प्रकार्यात्मक संबंधों की प्रक्रिया के संदर्भ में ही समझा जा सकता है ये प्रक्रियायें व्यवस्थाओं की विभिन्न अवस्थाओं के माध्यम से प्रतिबिम्बित होती हैं जिनमें व्यक्ति व्यवस्था ने सामानीकरण की प्रक्रिया व सामाजिक सांस्कृतिक व्यवस्थाओं ने संस्थापन (इंस्टीट्यूशनलाइजेशन) की प्रक्रिया मुख्य है। इनके मध्य गतियोजक प्रक्रियाये, समाज में व्यक्ति की भूमिकाये अथवा उनकी क्रिया-उन्मुखता है। क्रिया की यह संदर्भ संरचना मानवीय व्यक्तित्व में मुख्यता प्रेरणात्मक संरचना के विवेचित प्रयास से ही प्रकट होती है।

पारसंस की सैद्धान्तिक सोच पर परिवेशीय प्रभाव को नकारा नहीं जा सकता है। यहां पर परिवेशीय प्रभाव का तात्पर्य उस समय जन्मी औद्योगिक क्रान्ति व उसका सामाजिक व्यवस्था पर बढ़ता प्रभाव

था. जिसने समानता पर आधारित समाज का निर्माण करके व्यक्ति के स्वतंत्र अस्तित्व की जन्म दिया। पारस की सैद्धान्तिक लेखनी का कार्यकाल मुख्यतया 1930 से 1970 तक माना जा सकता है। अपने इस कार्यकाल में उन्होंने बहुत कुछ लिखा। लेकिन परिवेश उसमें वे व्यक्ति के स्वतन्त्र अस्तित्व को नकार न सके। विषय की प्रासंगिकता को देखते हुए यहां इस तथ्य पर विश्लेषण भी आवश्यक हो जाता है कि समाजशास्त्रीय प्रतिरूप चाहे पाश्चात्योन्मुख हो या भारतीय, समाज जिस परिवेश में जन्म ले रहा है, उस परिवेश के संरचनात्मक यथार्थ में इकाई का अस्तित्व भी जानना आवश्यक हो जाता है। कम से कम भारतीय परिप्रेक्ष्य में पारसंस के समाजशास्त्र की चर्चा करते समय हमारा यह ध्येय हो जाता है कि पारसंस के सैद्धान्तिक प्रत्ययों का अध्ययन करते समय उनको सैद्धान्तिक लेखनी के चारों ओर के परिवेशीय प्रभाव का भी अध्ययन किया जाये, क्योंकि इसके अभाव में हम भारतीय समाज को संरचनात्मक यथार्थ का वैज्ञानिक विश्लेषण करते समय भावी पीढ़ी के लिए इसके सैद्धान्तिक प्रत्ययों की रचना करने में न्याय नहीं कर पाएंगे।

पारसोनियन प्रतिरूप : भारतीय संदर्भ में—इस संदर्भ में पारसंस के पाश्चात्योन्मुख क्रिया—व्यवस्था प्रतिरूप में भारतीयोन्मुख सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत कुछ संदेह उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक ही है। प्रसंगवश उन संदेहों का वर्णन भी तर्कोचित है। जैसे क्या पारसंस की क्रिया—व्यवस्था का प्रतिरूप भारतीय सामाजिक व्यवस्था पर पूर्णतया या आंशिक रूप से लागू होता है? यदि नहीं, तो क्या पाश्चात्योन्मुख सामाजिक व्यवस्था व भारतीयोन्मुख अवस्था के विश्लेषण के मापदण्डों में कितनी भिन्नता है। यदि मापदण्डों में भिन्नता है तो पारसोनियन प्रतिरूप में निर्धारित क्रिया—व्यवस्था का आरेख व उसने समाहित मूलभूत प्रकार्य जैसे अनुकूलन का प्रकार्य, सम्य उपलब्धि प्रकार्य एकीकरण का प्रकार्य प्रतिमान को बनाये रखने का प्रकार्य और उसमें अन्तर्निहित द्विभाजन (Dichotomy)—आन्तरिक बाह्य व सहायक पूर्ण जिसमें कर्ता व उसकी परिस्थिति के अन्तर्गत क्रिया का स्वरूप भारतीय संरचनात्मक यथार्थ के कार्यात्मक पहलू से कितना भिन्न है? क्या पारसंस की क्रियात्मक व्यवस्था के पांच मुख्य अंग संरूपित परिवर्त्य (पैटर्न्स वैरियेबिल्स) भारतीय समाज की क्रियात्मक व्यवस्था पर लागू किये जा सकते हैं? यदि हां, तो उनकी देशज परिधि (नेटिव पेरीफेरी) क्या होगी? इन संदेहों के फलस्वरूप भारतीय समाजशास्त्र में पारसंस के सामाजिक व्यवस्था के सिद्धान्त की उपयुक्तता को दृष्टिगत रखते हुए इस तथ्य की ओर संकेत करना भी आवश्यक हो जाता है कि पारसोनियन व भारतीय सामाजिक—ऐतिहासिक यथार्थ दोनों प्रतिरूपों की भिन्नताओं के विश्लेषण का व्यवस्थात्मक समानताओं के आधार पर संश्लेषणवादी दृष्टिकोण ही पारसंस के समाजशास्त्र का भारतीय परिप्रेक्ष्य में वास्तविक चिन्तन होगा। टॉलकट पारसंस और डी.पी. मुखर्जी के मध्य संरचनात्मक व प्रकार्यात्मक विभिन्नतायें वर्तमान परिप्रेक्ष्य में पारसंस की चर्चा केवल उनकी सैद्धान्तिक कृतियों की चर्चा ही नहीं है बल्कि उन चुनौतियों की भी चर्चा है, जिन्होंने अमेरिकी अनुभववाद को ढाल बनाकर भारतीय समाज की संरचनात्मक प्रक्रियाओं तथा समाज के आत्मचेतनापूर्ण अध्ययन में बाधा डाली। भारतीय समाज में यथार्थ व ऐतिहासिक परिवेश के आत्मबोध की वास्तविकता के सन्दर्भ में सन् 1956 में धूर्जटी प्रसाद मुखर्जी का प्रथम भारतीय समाज सम्मेलन में दिया गया अध्यक्षीय भाषण एक महत्वपूर्ण दस्तावेज है। उनका कथन है कि अमेरिकी समाज के अन्तर्गत व्यक्ति और उनकी सामाजिक क्रिया समाज के अध्ययन की इकाई माने जाते हैं। दूसरी बार भारतीय समाजशास्त्र में समाज का अध्ययन परम्परा पोषित समूहिकता पर आधारित है। इसी आधार पर उन्होंने पारसंस के क्रिया के सिद्धान्त का खंडन किया उनका विचार था कि पारस की सामाजिक व्यक्ति क्रिया—परिस्थिति पोषित है जबकि भारतीय सामाजिक व्यवस्था समूह—क्रिया समूह—परम्पराओं द्वारा पोषित है उनके कथनानुसार, किसी भी संदर्भ में सैद्धान्तिक निर्माण के लिए संदर्भ संरचना एक पूर्व आता है लेकिन भारतीय संदर्भ में उन्होंने पारसंस के सैद्धान्तिक अंगकर्ता—परिस्थिति का पूर्णतया

खंडन किया है। क्योंकि यहां सामाजिक कर्ता के रूप में व्यक्ति (Individual) विश नहीं बल्कि सत्ता (Entity) के रूप में पुरुषाथ युक्त मानव है, सांस्कृतिक परिवेश में लक्ष्य प्राप्ति के लिये वस्तु और घटनाओं से उसको संवेदनशीलता और अपनी परिस्थिति से उसका स्वरूप ही भारतीय सामाजिक मानवीय दृष्टिकोण को स्पष्ट करता है। भारतीय समाजशास्त्र भारतीय परम्पराओं और उसमें निहित मानवीय पुरुषत्व का समाजशास्त्र है क्योंकि भारतीय मनुष्य स्वभाव ही है जिसका पुरुषार्थ से दिशा-निर्देश होता है। यहां भारतीय समाजशास्त्र का संरचनात्मक पहलू हमारी परम्परा, मानव व उसके कर्म है। यहां मानव की ऐच्छिक उसके स्वच्छन्द व्यवहार में निहित नहीं है। अतः भारतीय समाजशास्त्र के व्यक्ति की ऐच्छिकता पर आधारित विश्लेषण भारतीय परम्परा मूल्यों के अनुकूल नहीं है। इसलिए भारतीय समाज में की ऐतिहासिक यथार्थता के वास्तविक ज्ञान के लिये शक्ति का परित्याग करके सामूहिक परम्पराओं से ओत-प्रोत मानव मूल्यों से निर्देशित मूल्यों का अध्ययन किया जाना चाहिए। पारसंस के समाजशास्त्र का व्यक्ति कर्ता-परिस्थिति प्रधान है जबकि भारतीय समाजशास्त्र का मनुष्य पुरुष-कर्म प्रधान है। समाजशास्त्रीय चिन्तन के मार्ग में उसकी इच्छा समूह की व्यक्तिवादी नहीं बल्कि और साध्यवाद है, जो सामूहिक परम्पराओं से शक्ति प्राप्त करती है। इस अर्थ में भारतीय समाज की ऐतिहासिक यथार्थता को समझने के लिए भारतीय समाजशास्त्र की मान्यताओं पर पुष्टि करना भी आवश्यक हो जाता है।

समाजशास्त्र का भारतीय चिन्तन वर्तमान संदर्भ

निःसंदेह प्रौद्योगिकीय अभिनव परिवर्तनों से उत्पन्न समाज की जटिलता ने सामाजिक विज्ञानों के समक्ष एक अस्मिता का संकट उत्पन्न कर दिया है। समाजशास्त्र भी इससे अछूता नहीं है। आज हमारे लिये एक गंभीर सोच का विषय बना हुआ है कि ब्रिटिश समाजशास्त्री, फ्रांसीसी, अमेरिकी समाजशास्त्र आदि की भांति क्या भारतीय समाजशास्त्र भी अपने स्वतंत्र प्रत्ययों, सिद्धान्तों, प्रविधियों, प्रतिरोधों के आधार पर स्वतंत्र अस्तित्व अर्जित कर पाया है। भारत में समाजशास्त्र के एक स्वतंत्र विषय के रूप में पठन-पाठन व अध्ययन करते हुए लगभग एक शताब्दी व्यतीत होने जा रही है परन्तु क्या कारण है कि आज हम इन प्रश्नों के लिए अनुत्तर है कि क्या समाजशास्त्र की पद्धति व विषय वस्तु मानवशास्त्र से भिन्न है? क्या यह एक सरल शास्त्र है जो समाज की घटनाओं के विश्लेषण की तुलना में केवल उनका वर्णन ही प्रस्तुत करता है? क्या इस शास्त्र का ध्येय सामाजिक यथार्थ के वर्णन के लिए गुणात्मक तथ्यों पर अधिक बल देना है या परिणात्मक तथ्यों पर। क्या यह वैज्ञानिक भविष्यवाणी करने में समर्थ है? क्या इसकी प्रकृति सैद्धांतिक असैद्धांतिक, ऐतिहासिक, अनैतिहासिक, व्याख्यात्मक या आदेशात्मक एवं रूढ़िगत या तार्किक है? जब यह समाज की समस्याओं का हल सुलझाने, सामाजिक व्यवस्था को नियमित बनाने सामाजिक न्याय को दिशा-निर्देश करने में स्वयं को असमर्थ पा रहा है तो ज्ञान की नई शाखा के क्षेत्र में इसकी उपयोगिता है। क्या कभी हमने यह विचार करने का प्रयास किया है कि जिन विकसित राष्ट्रों के समाजशास्त्रीय प्रतिरूपों का प्रयोग हम अपने राष्ट्र की समस्याओं के मापने में कर रहे हैं। उन प्रतिरूपों ने राष्ट्र की समस्याओं में और अधिक वृद्धि की है। उनके माध्यम से हम भारतीय सभ्यता सामूहिक संस्कृति के के यथार्थ को कैसे प्रकट कर सकते हैं। इस विषय के प्रति निष्कपट सोच विकसित करने की महती आवश्यकता है कि क्या पाश्चात्य दार्शनिकों व समाजशास्त्रियों के द्वारा प्रतिपादित अवधारणाओं, व्याख्याओं सिद्धान्तों को भारतीय अतीत जीवनदर्शन विकास को समझने में प्रयोग में लाये जा सकते हैं या उनमें भारतीय अपने स्वरूप के आधार पर कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तनों की आवश्यकता है।

भारतीय समाजशास्त्र के अध्ययन विषयवस्तु के निर्धारण के लिए ड्योमो व पोकाक, पी0 ओबराय के साथ ही कन्ट्रीब्यूशन तू इण्डियन सोसियोलॉजी, इस्टर्न एनोपॉलीविजैन इत्यादि के

द्वारा जो बीडा उठाया गया, उससे एक स्वदेशी सोच ती विकसित हुई है। परन्तु व्यवहारिक स्तर पर इसका परिणाम शून्य ही रहा है। भारतीय समाजशास्त्र के सार्वभौमिक स्वरूप को विकसित करने के लिए तुलनात्मक उपागम (कम्ब्रेटिव एप्रोच) के द्वारा भारतीय समाज आन्तरिक व बाह्य समानताओं व भिन्नताओं के आधार पर एक मूलभूत परिसर की आवश्यकता है। ताकि हम समान रूप से विकासशील राष्ट्रों की समस्याओं के उद्भव को जानकर व उनसे लाभ उठाकर अपने भविष्य को सुनिश्चित करने का प्रयास कर सकें। भारतीय समाजशास्त्र को सार्वभौमिक विज्ञान के रूप के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए ड्यूमों क पोकाक व उनके पूर्वगामी जी.एस. धुर्वे व इरावती कर्वे इत्यादि ने भारतीय समाज के अतीत को भारतीय ज्ञानशास्त्रीय उपागम (इण्डालाजिकल एप्रोच) के द्वारा खोजने का जो संकेत दिया था, उससे समाजशास्त्र अन्य संस्कृतियों को नकारता हुआ केवल हिन्दू संस्कृति तक ही सीमित हो जाता है भारतीय समाजशास्त्र की इस विषय के निर्धारण पर इम्तियाज अहमद ने ड्यूमो व अन्यो की आलोचना करते हुए कहा कि भारतीय समाजशास्त्र इस प्रकार की अध्ययनवस्तु से अहिन्दू समाजों, संस्कृतियों व समकालीन अन्तर समूहों के साथ न्याय नहीं कर पायेगा। इसलिए उन्होंने ज्ञान की शाखा को अपने सामाजिक व सांस्कृतिक इतिहास के प्रति पक्षपाती होने का आरोप लगाया है इस संदर्भ में प्रो. अहमद का कथन है कि भाषा की एकता सांस्कृतिक राभ्यता में ही निहित नहीं है, बल्कि इसकी संस्कृति बहु-धार्मिक व बहु-परम्परावादी है। इसी के फलस्वरूप भारतीय समाजशास्त्र को अन्य संस्कृतियों व परम्पराओं के समायोजन से ही यथार्थवादी अध्ययन करना चाहिए। इसके अतिरिक्त राधाकमल मुखर्जी ने भी भारतीय समाजशास्त्र के अन्तर्गत सामाजिक यथार्थ के विभिन्न राज्यों का अर्थशास्त्र व पारिस्थिति की) के विस्तृत दृष्टिकोण का प्रयोग करते हुए सहकारी उपागम (इन्टरडिसीप्लीनरी एप्रोच) के द्वारा उनका अध्ययन करने का स्पष्ट संकेत दिया था। सारांश यद्यपि उपरोक्त वाद-विवाद से हुए भारतीय समाजशास्त्र के संपूर्ण परिसर पर एक यथोचित दृष्टिपात करें तो यह निष्कर्ष निकलता है कि यह अभी हिन्दूशास्त्र रूपी आरोपों व प्रत्यारोपों से उबर नहीं पाया है। निःसंदेह भारतीय समाजशास्त्र एक नई विश्वदृष्टि परिप्रेक्ष्य व विधा के साथ उभरता प्रतीत हो रहा है लेकिन यह दृष्टिकोण भारतीय समाजशास्त्रियों की तुलना में पश्चिमी समाजशास्त्रियों की मध्य अधिक प्रचलित व परिलक्षित हो रहा है। विभिन्न संस्कृतियों का अपनी अस्मिता की रक्षा के लिए संघर्ष हमारी इसी अस्वीकारोक्ति का परिणाम है। मेरा तात्पर्य यहां भारतीय समाजशास्त्र की वर्तमान प्रकृति पर लांछन लगाने का नहीं है बल्कि उस पर मंडराते हुए उन वर्तमान सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक व ऐतिहासिक संकट की ओर संकेत करना है जिसमें भविष्य में भी लघु-संस्कृतियां एकीकृत रूप में अपने अस्तित्व की ऐतिहासिक जड़ों को और अधिक मजबूत करने व उनका औचित्य सिद्ध करने का प्रयास करेंगी। तब भारतीय सोच के विशेषज्ञों को भारतीय समाजशास्त्र की विषयवस्तु की पद्धति निर्धारण में और अधिक जटिलता का सामना करना पड़ सकता है। इसी संदर्भ में यह कहना भी प्रासंगिक होगा कि देश और काल के साथ समाजशास्त्र के स्वरूप में जो परिवर्तन हुए हैं, उसी के चलते ऐसा प्रतीत हो रहा है कि इक्कीसवीं शताब्दी में पुरातन भारत के पुख्ख का शनै-शनै औद्योगिक मानव में सपान्तरण हो रहा है। आज भारतीय समाज में उभरती हुई सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, जातीय जातीय समस्यायें इसी औद्योगिक मानव को बदलते व्यक्तिवादी दृष्टिकोण का परिणाम है। साथ ही आज के भारतीय समाजशास्त्रीय प्रयोगशाला की महत्वपूर्ण आगयन की विषय वस्तु भी है। इसीलिए इन समस्याओं के नीतिगत निर्देशन के लिये भारतीय समाजशास्त्र को ऐसा मार्ग प्रशस्त करना है, जिसके विषय में मोहनदास कर्मचन्द गांधी ने भी यह संकेत दिया था कि मैं एक ऐसे गृह की कामना करता हूं जिसने विभिन्न प्रदेशों की संस्कृतियां समस्त रूप से मेरे द्वार से गुजाती हो अर्थात् एक ऐसे समाजशास्त्र का अध्ययन जिसकी प्रकृति अनुदार व विमुखतावादी न होकर संहिता (सिनमेटिक) हो, जिसमें विभिन्न परम्पराओं, जीवन शैलियों, राष्ट्रीयताओं (नेशनलिटीज) संस्कृतियों का सहअस्तित्व निरंकुश न होकर समतावादी हो।

भारतीय समाजशास्त्र का एक बौद्धिक स्वराज विकसित करने के लिए भारतीय समाज की एकीकृत समस्याओं के ऐतिहासिक परिक्रिय में उनके अध्ययन की एक निष्पक्ष पद्धति विकसित करनी है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

अहमद, इम्तियाज, (1972)फॉर ए सोशियोलॉजी ऑफ इंडिया,

ओबेराय, जे.पी.एस. (1974), न्यू आउस लाइन्स ऑफ स्ट्रक्चरल सोशियोलॉजी, वॉल्यूम-8

पोकाक, डी.एफ. (1957), फॉर ए सोशियोलॉजी ऑफ इंडिया, कन्ट्रीब्यूशन्स टू इंडियन सोशियोलॉजी, वॉल्यूम-1.

दामले, वाई.वी. (1979), ए ट्रीब्यूट टू टॉलकट पारसंस, सोशियोलॉजिकल बुलेटिन-29 (1-2)।

मुखर्जी, डी.पी. (1958), डायवर्सिटीज, पीपुल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।

श्रीनिवास, एम.एन. (1986), द डेवलपमेन्ट ऑफ सोशियोलॉजी एण्ड सोशल एन्थ्रोपोलॉजी इन इंडिया, इंडिया सोशियोलॉजी रिफ्लेक्शन्स व इन्ट्रोस्पेक्शन्स, पॉपुलर बम्बई।